

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में दलित विमर्श की दशा एवं दिशा

डॉ० ज्योति सिनहा,

पूर्व फेलो,

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला(हि.प्र०)

दलित विषयक किसी भी बात पर चर्चा करने से पूर्व आवश्यक है कि दलित का अर्थ क्या है? दलित कौन है? इनकी क्या परिभाषा है? और चर्चा कर रहे हैं, तो क्यों? अर्थात् दलित विमर्श की आवश्यकता क्यों है? इन सब बातों का उत्तर जाने बिना हम दलित विमर्श कर पाने में असमर्थ रहेंगे। अतः जरूरी है कि 'दलित' शब्द और उससे अभिप्रेत अर्थ और परिभाषा को समझना।

'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'दल' धातु में 'त' प्रत्यय लगा देने से हुयी है। शब्द कोष के अनुसार 'दलित' शब्द का सामान्य अर्थ है— रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ आदि। अर्थात् दलित का शाब्दिक अर्थ दमित के संदर्भ में किया गया है किन्तु वर्ग विशेष के प्रति रुढ़ हो गया है। समान के उस वर्ग को जिसे सबसे निम्न समझा जाता है, जिसका दलन किया जाता है और दबा कर रखा जाता है उसे दलित वर्ग कहा जाता है। दलित शब्द जाति सूचक नहीं बल्कि वर्ग सूचक है। यह समाज के उस वर्ग का परिचायक है जिसे दबा—कुचला गया, हर स्तर एवं हर क्षेत्र में उत्पीड़ित किया गया। दलित शब्द आधुनिक है और इसका प्रयोग वर्तमान अर्थ में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही लगभग है।

वास्तव में दलित शब्द का दायरा बहुत विस्तृत है तथा इस शब्द की एक

निश्चित परिभाषा देना कठिन है। भारत के प्राचीन साहित्य में दलित के अर्थ में शुद्ध, दास, चण्डाल, अन्त्यज तथा अस्पृश्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। बाद में 'अस्पृश्य' शब्द के लिये महात्मा गांधी ने 'हरिजन' तथा डा० भीमराव अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत' जैसे शब्दों का प्रयोग किया। वास्तव में यह वर्ण एवं जाति व्यवस्था के कोख से उत्पन्न हुयी है। वेदों पर यदि हम दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि हिन्दू समाज व्यवस्था को चलाने के लिये प्राचीन काल में ब्राह्मणों ने चार वर्णों का निर्माण किया यथा—

“चार्तुवर्ण्यमया सृष्टं। गुण धर्म विभागशाः।।

मानवीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा। चार्तुवर्ण्य व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। पुरुष सुक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र इन वर्णों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु राजन्यः कृतः।

उरुस्तदस्य यद्वैश्यः पदम्यां शुद्रोऽजायतः।।

हिन्दी धर्मकोश में समुल्लिखित है कि ऋग्वेद के पुरुष सुक्त के अनुसार विराट पुरुष के पैरों से शुद्र की उत्पत्ति हुयी। प्रारम्भ में अर्थात् वैदिक काल में वर्ण—व्यवस्था गुण—कर्म एवं स्वभाव के अनुरूप थी जो सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ आधारशिला थी। परन्तु बाद में सिर्फ जन्म ही वर्ण निर्धारण का एक मात्र आधार बना, गुण—कर्म का लोप हो

गया और फिर जाति-व्यवस्था ने जन्म लिया। परिणाम स्वरूप ब्राह्मण स्वयं को पूज्य, क्षत्रिय सर्व शक्तिशाली, वैश्य सम्पन्न एवं शुद्र तीनों वर्णों का सेवक हुआ। चारों वर्णों में शुद्र को सबसे नीचा समझा गया। यह माना गया कि उसे सम्पत्ति, शिक्षा का अधिकार नहीं है। उसके लिये अलग बस्तियां, अलग कुआं तथा अलग श्मशान भूमि की व्यवस्था है। और ऐसी जिन्दगी जो दासता, पराधीनता तथा गुलामी से पूर्ण थी और यह भी विधान बना कि जो भी इन नियमों की अवहेलना करे अथवा इस सामाजिक व्यवस्था में अवरोध उत्पन्न करे उसे दण्डित किया जाये।

मध्यकाल में इस जाति व्यवस्था का विकृत रूप समाज में धीरे-धीरे अपना वर्चस्व स्थापित करने लगा। ब्राह्मण सदैव सर्वोपरि रहे एवं शुद्र सदैव निम्नतर स्थापित हुए, शुद्रों को सिर्फ त्रैवर्णिकों की सेवा के लिये समझा गया। इन्हें अछूत एवं अपवित्र घोषित कर दिया गया तथा इनके लिये वेदाध्ययन, मंदिर प्रवेश तथा धार्मिक कार्य वर्णित कर दिया गया। आर्थिक रूप से अत्यंत कमजोर यह वर्ग अपने जीने के लिये दो जून की रोटी के अलावा और कुछ न सोच सका। उपेक्षित, तिरस्कृत, व्यथित एवं शोषित-पीड़ित यह वर्ग गर्त में गिरता गया। डा० कुरैशी के अनुसार “द्विज लोग शुद्रों और म्लेच्छों की छाया से भी घृणा करते थे।”

आज भी साहित्यकारों एवं विद्वानों ने ‘दलित’ वर्ग की जो परिभाषा दी वह भी इनकी बदहाल स्थिति को प्रगट करता है। विद्वतजनों की आम राय में जिसे मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया तथा जिसे मानव निर्मित बर्बर मान्यताओं को धर्म व भगवान के नाम पर स्वीकार करने के लिये बाध्य किया गया वह ‘दलित’ है।

डा० सोहन पाल सुमनाक्षर ने दलित शब्द को परिभाषित करते हुये बताया है— “दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित एवं पीड़ित व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं। भूमिहीन, अछूत, बन्धुआ, दास, गुलाम, दीन और पराश्रित-निराश्रित भी ‘दलित’ ही हैं।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा० चन्द्रकान्त वांडिवडेकर ने दलित शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी है— “दलित यानि अनुसूचित जातियां, बौद्धिक कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, भूमिहीन किसान, गरीब, खानाबदोस जातियां, आदिवासी जातियां दलित शब्द की जाति-निरपेक्ष व्यापक परिभाषा है।”

साहित्यकार लक्ष्मण जोशी के अनुसार—“दलित वर्ग मानवीय प्रगति में सबसे पीछे ढकेला हुआ सामाजिक वर्ग है। हिन्दुओं में महार-चमार, डोम आदि जातियों को गांव से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया है और जिनसे सवर्ण समाज शारीरिक सेवायें लेता रहा लेकिन जीवन की प्राथमिक जरूरतों से जानबूझकर वंचित रखा गया और पशुओं के स्तर से भी घृणित जीवन जीने के लिये बाध्य किया गया उन्हें ही ‘अछूत’ अथवा ‘दलित’ कहा गया।”

युगों-युगों की दासता, पराधीनता व परतंत्रता के बाद जब भारत स्वतंत्र हुआ तो सदियों से शोषण का शिकार रहे दलित वर्ग को थोड़ी सी राहत, अवश्य मिली। शिक्षा व स्वतंत्रता ने इन्हें जागरूक किया।

वैदिक ऋषि-मुनियों ने समस्त चराचर के कल्याण की जो कामना की थी यथा—“सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् भागभवेत्।।” अर्थात् सबका कल्याण हो, सभी

सुख से रहें, इन श्लोकों में, नीहित अर्थ को दलितों ने समझना आरम्भ किया। इनकी जागरूकता की और बल प्रदान किया बाबा भीमराव अम्बेडकर तथा ज्योतिबा फूले इत्यादि की विचारधारा ने। गांधी एवं मार्क्सवादी विचारधारा ने भी दलितों, अछूतों, हरिजनों को सामाजिक सम्मान आर्थिक समृद्धि एवं शैक्षिक जागरूकता पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

डा० अम्बेडकर ने दलित वर्गों के आर्थिक विकास, सामाजिक, धार्मिक अधिकारिता के लिये संविधान के माध्यम से जो क्रांतिपूर्ण कार्य किया उसी का यह परिणाम है कि आज यह वर्ग अपने हक के लिये संघर्ष कर रहा है और संघर्ष में साथ दिया है समकालीन साहित्य ने। साहित्यकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से इनकी पीड़ा, व्यथा को समाज के समक्ष बड़ी मजबूती से रखा। इनमें 'स्व' का भाव पैदा करने एवं अपने स्वाभिमान एवं अस्मिता की रक्षा के प्रति सजगता की भावना जाग्रत करने में इन साहित्यकारों तथा इनके साहित्य ने महत्वपूर्ण कार्य किया। तत्कालीन साहित्य इस वर्ग-विभेद को बखूबी चित्रित करता है तथा दलितों पर सवर्णों द्वारा होने वाले अत्याचार, अनाचार को भी चित्रित करता है।

हिन्दी साहित्य मूल रूप से गांधी, मार्क्स एवं अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित है। राजनीति ही नहीं बल्कि समाज संस्कृति व साहित्य सभी को इनके विचारों ने एक नई दिशा एवं सोंच प्रदान की है। इनकी विचारधाराओं से प्रभावित साहित्य का यदि विभाजन किया जाये तो मोटे मोर पर इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला परम्परावादी, दूसरा प्रगतिशील अथवा जनवादी और तीसरा दलित।

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श अथवा दलित चिन्तन का उद्देश्य दलितों की वेदना-व्यथा को सर्वसमाज के समक्ष रखा, उसका अहसास कराना तथा साथ ही दलित वर्ग के मन में जागरूकता पैदा करना, उनकी अस्तित्व रक्षा की भावना को जाग्रत करना तथा स्वयं के बारे में सोंचने समझने को मजबूर करना, वर्तमान समय में अपनी वस्तुस्थिति से परीचित होना।

दलित-चिन्तन, दलित-विमर्श करने वाले साहित्यकारों में दलित-साहित्य के अर्थ को लेकर दो तरह की विचारधारायें उभर कर सामने आती हैं अर्थात् दो तरह की सोच दलित साहित्य की परिधि को निश्चित करती है। एक सोच के विद्वानों के अनुसार दलित चेतना से दलितों के लिये, दलितों द्वारा लिखा जाने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। उनके अनुसार सिर्फ दलित मूल के साहित्यकार ही दलित समस्या को सही एवं सार्थक अभिव्यक्ति दे सकते हैं। वहीं दूसरी सोच के अनुसार किसी भी वर्ग का साहित्यकार जो दलित जीवन और उनकी समस्याओं पर रचना-आलोचना करता है वह दलित साहित्यकार है। दलित साहित्य डा० अम्बेडकर की विचारधारा को अपना मूल स्रोत मानता है। आज के समय में डा० अम्बेडकर के विचारों की व्यापकता ही दलित साहित्य का मुख्य केन्द्र बिन्दू है तथा यह समानता का पक्षधर एवं मुक्ति का, नवचेतना का साहित्य है जिसके अपने पृथक मूल्य, मानदण्ड, पहचान एवं विचारधारा है। इसका उद्देश्य दलितों की वेदना, व्यथा, पीड़ा को समाज के समक्ष रखना तथा दलितों के मन में जागरूकता पैदा करना, सदियों से उनकी सोची हुयी चेतना को जाग्रत करना तथा अपने अस्तित्व के बारे में सोंचने-समझने को मजबूत करना। इस साहित्य के प्रयोजन के सन्दर्भ में यशवन्त मनोहर का मानना है कि

जनतांत्रिक समाजवाद प्रस्थापित करना और उस तारतम्य से फला का आशय निश्चित करना ही दलित साहित्य का प्रयोजन है। (मनोहर यशवन्त दलित साहित्य : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ सं०-39)

दलित लेखन के केन्द्र में दलित व्यक्ति है जो आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक रूप से भी पिछड़ा है वह न्याय से वंचित है। उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार और अस्पृश्यता का शिकार है और इन सबका कारण जाति है। दलित चिंतन का अन्तिम लक्ष्य जाति विहीन एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना है। कोई साहित्य समाज को जोड़ता है, तोड़ता नहीं है। किसी भी साहित्य का उद्देश्य उस समाज में व्याप्त स्थितियों को, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उनका स्पष्ट चित्रण कर प्रबुद्ध समाज के समक्ष उसकी वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना है। अलगाव की प्रवृत्ति को छोड़कर, देश व समाज का हिस्सा बनकर उस समाज को समृद्ध, सुखी, समतामूलक, न्यायपूर्ण व प्रगतिशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

मानवीय सभ्यता-संस्कृति के संकट से उबरने के लिये जिस सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है उसमें साहित्य एवं साहित्यकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। साहित्यिक रचना एवं रचनाकार की विचारधारा की दृष्टि के सन्दर्भ में डा० शिव कुमार मिश्रा ने कहा है कि "कोई भी विचारधारा हो वह हमें दुनिया को जानने समझने की एक दृष्टि देती है। रचना का विषय वह दृष्टि नहीं, इसके द्वारा देखा गया जीवन होता है। जीवन के मुख्य प्रवाह से जुड़ा हुआ रचनाकार ही सच्चे अर्थों में रचनाकार होता है। जो किनारे पर बैठकर लहरें गिनते रहते हैं, वे रचनाकार या स्रष्टा नहीं हो सकते। ऐसा रचनाकार, जीवन के

उतार-चढ़ाव को जिसने खुली आंखों से देखा और जाना है, जिसने अपनी सोच और विचारधारा को जीवन की गतिमानता के साथ जोड़ते हुये निरंतर मांजा और निखारा है और उस जीवन की सही समझ पाई है, उस बारे में कोई चूक नहीं कर सकता कि रचना के लिये विचारधारा की जरूरत होती है अथवा विचारधारा के लिये रचना की जाती है।"

अतः यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि किसी भी देश-काल की स्थिति के निर्धारण में साहित्य एवं साहित्यकार की सोच महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। साहित्य के अन्तर्गत जब हम दलित चिन्तन की बात करते हैं तो यह बताना समीचीन होगा कि सर्वप्रथम दलित चेतना मराठी साहित्य में आई। बाद में यह कन्नड़, उड़िया, बंगाली, गुजराती आदि से होकर हिन्दी साहित्य में आई। यदि हम सिर्फ दलित साहित्य की यात्रा के प्रारम्भ को देखें तो शायद 1920 से 1956 का समय उपयुक्त होगा। जो बाबा भीमराव अम्बेडकर की वाणी, भावनाओं, सजग कार्य एवं अछूतों के लिये किये गये सतत् संघर्ष के लिये महत्वपूर्ण है। अछूतों को समाज में प्रतिष्ठा, सम्मान, समानता दिलाने के लिये जो कार्य उन्होंने किया वह अवर्णनीय है तथा उससे सम्पूर्ण समाज प्रभावित हुआ। और अनेक साहित्यकारों लेखकों, कवियों ने अपनी लेखनी का विषय अम्बेडकर के विचारों से समृद्ध किया। तथा समाज के समक्ष जो साहित्य रखा उससे दलित वर्ग को अपनी स्थिति का सच्चा चित्रण महसूस हुआ। मराठी साहित्यकारों में बंधुमाधव, शंकर राव खरात, अन्नाभाउ साठे, दया पवार, सोनकांबले, लक्ष्मन माने, शरण कुमार लिम्बाले, किशोर शांता बाई काले, डा० रूस्तम, प्रो० रामराव, अशोक पवार एवं शरद काले इत्यादि हैं

जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से दलित-विमर्श को एक आयाम दिया।

प्रारम्भिक काल में दलित लेखन के कार्यों को अवश्य अनदेखा किया गया। प्रकाशन सम्पादन का कार्य कम हुआ परन्तु कार्य हुआ। 2 मार्च 1958 को दादर के बंगाली हाईस्कूल के सभागृह में दलित लेखकों का प्रथम साहित्य सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें इस आशय का प्रस्ताव रखा गया कि **दलित साहित्य का सांस्कृतिक महत्व पहचान कर दलित साहित्य को उचित महत्व दिया जाये।** बेकारी, गरीबी, अशिक्षा, असम्मान में दलितों की भावनाओं को जड़ से ही खोखला कर दिया था। परन्तु देश की आजादी एवं अम्बेडकर की विचारधारा ने दलितों को व्यापक रूप से आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया। उनकी सोच एवं उनके सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। परम्पराओं को टुकराकर वे एकजुट होकर संगठित होने लगे। समता, स्वतंत्रता तथा स्वाभिमान जैसे शब्दों के अर्थ एवं अभिप्राय को समझने लगे। अपने अस्तित्व को लेकर जन-जन में जागरूकता उत्पन्न हुयी और इस चेतना एवं जागरूकता को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, तत्कालीन साहित्य ने। समाज के विविध स्तरों पर नये लेखकों, कवियों, साहित्यकारों का उदय हुआ। साहित्यकारों ने अपनी लेखनी से दलितों की वेदना, पीड़ा, व्यथा को समाज के समक्ष रखने का प्रयास किया तथा उन्हें यह अहसास दिलाया कि यह जन-जन की पीड़ा है।

इन्हीं व्यथाओं को अर्थात् दलित शोषित, पीड़ित, दुःखी दरिद्र, नीरीह मनुष्य की पीड़ा अत्याचार, अनाचार से त्रस्त असम्मानित जीवन की अनुभूतियों को हिन्दी साहित्य में उकेरा गया तभी हिन्दी साहित्य में

दलित चिन्तन एवं परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। सदियों से दबे हुये मन में जो आक्रोश था वह साहित्य की विभिन्न विधाओं में मुखरित हुआ। हिन्दी का दलित साहित्य लगभग प्रत्येक मामले में मराठी दलित साहित्य से दो दशक पीछे हैं। हिन्दी साहित्य में दलित चिन्तन को अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो सन्त कबीर से लेकर तुलसी, निराला, प्रेमचंद, यशपाल, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त जैसे अनेकों मूर्धन्य साहित्यकारों ने दलित विमर्श को मुखरित कर दलित-चिन्तन एवं चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने हिन्दू समाज की अनेक बुराईयों एवं विकृतियों की आलोचना कर समतामूलक, सुदृढ़, आदर्श समाज की कल्पना की। स्वतंत्रता, समानता व विश्व बंधुत्व की स्थापना ही दलित विमर्श का उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति साहित्यकारों ने की। दलित विमर्श, दलित-चिन्तन हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में परिलक्षित होता है। उपन्यास कहानी, कविता, नाटक, आत्मकथा, इन सभी विधाओं में साहित्यकारों ने दलित चेतना को मुखरित करने का प्रयास किया है जिसका सीधा प्रभाव दलित समाज पर पड़ा।

सर्वप्रथम उपन्यासों में अभिव्यक्त दलित चेतना की बात हम करेंगे। हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों में प्रेमचंद का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने दलित जीवन पर कई रचनायें लिखीं। उनके 'रंगभूमि' उपन्यास का नायक सूरदास 'चमार' है। जो जन्म से अन्धा है और लोगों की दया पर निर्भर है। 'कर्मभूमि' में गूदड़ चौधरी चमार है। 'गोदान; की सीलिया चमाईन का मातादीन पण्डित दैहिक शोषण करता है। वैसे ही 'कायाकल्प' उपन्यास में पीड़ित दलित समुदाय की स्थिति का चित्रण है। इन सभी उपन्यासों में दलित पात्रों की दीन-हीन दशा को चित्रित किया गया है। प्रेमचन्द पहले रचनाकार हैं जिन्होंने

दलित पात्रों के जरिये दलितों के उत्पीड़न एवं दर्द को अपनी रचना के माध्यम से समाज का ध्यान दलितों की दूर्दशा एवं दयनीयता की ओर आकृष्ट करने की कोशिश की है। प्रेमचंद के अलावा समकालीन अनेक जनवादी-गांधीवादी साहित्यकारों ने दलितों पर उपन्यास लिखे।

प्रेमचन्द के समकालीन अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास "नाच्यो बहुत गोपाल" में भंगी जाति की समस्याओं, उनके दुःख-दर्द को बखूबी चित्रित किया है।

फणीश्वर नाथ रेणु का उपन्यास, "मैला-आंचल" दलित विमर्श की परम्परा का सशक्त उपन्यास है।

भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' में गेंदा लाल चमार है। वह गुलामी से इस तरह जकड़ा है कि स्वाभिमान की बात सोच ही नहीं सकता। उसका कहना कि "आन्दोलन कीजिये, स्वराज्य लीजिये, लेकिन हम लोगों को जिन्दा रहने दीजिये। हम लोग तो आपकी गुलामी के लिये पैदा हुये हैं।" गेंदालाल की गुलामी का दर्द, जीवन की विवशता और मन में दबा हुआ। आक्रोश बखूबी चित्रित किया गया है। इनके अन्य उपन्यास "सीधी-सच्ची बातें" में भी मुख्य पात्र को हिन्दू धर्म की छुआ-छूत से तंग आकर ईसाई धर्म स्वीकारते दिखाया गया है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यास "बलचनमा" एवं 'वरुण के बेटे' में दलितों के यथार्थ जीवन का मार्मिक चित्रण किया है।

गंगेय राघव का उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' दलित चेतना को मुखरित करता है। इसमें नटजाति के जीवन संघर्ष का वर्णन है जिसके माध्यम से उनके जीवन जीने की विवशता, यौन-शोषण, पुलिस के अत्याचार,

निर्धनता इत्यादि का दुःखद चित्रण किया गया है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में 'कबूतरा' जाति के जीवन-संघर्षों को उकेरा गया है। शैलेश मटियानी ने अपने उपन्यास "कोई अजनबी नहीं" में दिल्ली की गन्दी बस्तियों में रहने वाले शोषित-दलित वर्ग की जीवन के यथार्थ को उभारा है। वहीं दूसरे उपन्यास 'सर्पगन्धा;' में पर्वतीय क्षेत्र में रहने वाले दलित समाज के अधिकार के लिये किये गये संघर्ष को चित्रित किया है।

डा० रामदरश मिश्र के उपन्यास "पानी के प्राचीर" में दलितों की गरीबी का भयावह चित्रण है जो समाज को सोंचने पर मजबूर करता है।

इस उपन्यास में पशुओं के गोबर से निकाले गये गेहूँ की रोटी और मरे पशुओं के मांस को खाने जैसी सत्य घटनाओं की अभिव्यक्ति की गयी है, जो दलितों के अभाव ग्रस्त जीवन का त्रासदी को चित्रित करता है।

गिरिराज किशोर ने दलितों के हित को ध्यान में रखकर 'यथा प्रस्तावित' व 'परीशिष्ट' उपन्यासों में प्रशासनिक एवं शैक्षणिक व्यवस्था में अमानवीय तरीके से परेशान हो रहे लोगों का सटीक चित्रण है जो इस सामाजिक व्यवस्था को रेखांकित करता है। बेचैन शर्मा 'उग्र' ने अपने उपन्यास 'बुधवा की बेटी' में भंगी समाज के अधिकारों की लड़ाई को दिखाया है। जिसमें जीवन के मूल अधिकारों को प्राप्त करने के लिये संघर्ष से जूझते दिखाया है।

श्री लाल शुक्ल ने अपने उपन्यास 'राग दरबारी' में दलितों के प्रति सवर्णों की उपेक्षात्मक रवैये एवं उन्हें सदैव अपने हाथ की कठपुतली बनाये रखने के नजरिये को

दर्शाया है। विशिष्ट पात्र वैद्य जी अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्दी रामाधीन को सबक सिखाने के लिये दलित पात्र सनीचर का इस्तेमाल उसे ग्राम सभा का प्रधान बनाकर करते हैं। सनीचर को वह अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखता है।

जगदीश चन्द्र ने अपने उपन्यास "धरती धन न अपना" में दलितों की धार्मिक चेतना को उभारा है और समाज को यह चेताया है कि किस तरह उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं के अपमान से व्यथित होकर इसाई धर्म ग्रहण किया।

इनके अतिरिक्त डा० शिव प्रसाद सिंह रचित 'शैलूष' विन्ध्य क्षेत्र के नटों के कबिलाई जीवन पर आधारित उपन्यास है।

सत्य प्रकाश द्वारा लिखित उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में सदियों से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रभाव एवं स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन के दौर में यह वर्ग अपने को किस स्थान पर पा रहा है तथा आज भी वर्णव्यवस्था एवं कर्मकाण्ड उन पर किस तरह हावी है। दोनों बातों को सत्यप्रकाश ने ईमानदारी से रेखांकित कर समाज के समक्ष यथार्थ को उजागर करने का प्रयास किया है।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त गोपाल उपाध्याय की 'एक टुकड़ा इतिहास' निराला का 'निरूपमा', 'चतुरी चमार' डा० धर्मवरी का 'पहला खत' प्रेम का कपाड़िया का 'मिट्टी का सौगंध', मधुकर सिंह का 'सोनभद्र की राधा' चतुरसेन शास्त्री का 'उदयस्त', 'बगुला के पंख' जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' श्रवण कुमार गोस्वामी 'चक्रव्यूह', भैरव प्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा', हरसुमन बिष्ट का 'आसमान झुक रहा है' इत्यादि इनके उपन्यास हैं जिससे दलित चित्रण मिलता है।

बाद के कुछ उपन्यासों में दलित जागरूकता, उनके आक्रोश, विरोध एवं विद्रोह को भी दिखाया गया है। अनेक उपन्यासों में दलितों को सवर्णों के प्रति एकजुट एवं संगठित होते हुये भी दिखाया गया है।

मिथिलेश्वर के "यह अंत नहीं" उपन्यास में ठाकुर सवर्ण सिंह लल्लन कहार को हित साधने के लिये प्रधान बनवा देता है तथा सत्ता अपने हाथ में रखता चाहता है, परन्तु अन्त में लल्लन की चेतना जाग्रत होती है और वह सिर्फ हाथ की कठपुतली बने, रहने से इंकार कर देता है।

इसी तरह देवी दयाल सेन के उपन्यास 'मानव की परख' में कलजुरा (भंगी) पंचायत प्रधान के चुनाव में जमींदार को दो टूक जबाब देता है— 'बहुमत हमारा है। यह प्रजातंत्र का जमाना है, शक्ति का राज्य गया।'

इस प्रकार लोकतंत्र के महत्व को दलितों ने समझना शुरू लिया। संविधान के 73वें संशोधन के बाद राजनीति के संदर्भ में दलितों को एक मजबूती मिली, जिसका अनुकूल प्रभाव इन उपन्यासों के माध्यम से भी चित्रित किया गया। उन्होंने स्वयं अपने को तथा अपने अस्तित्व को पहचानना शुरू किया। इस तरह कुछ उपन्यासों में परम्पराओं का विरोध, मन की भड़ास दबी मानसिकता, आक्रोश का प्रस्फूटन, मन में दबी निराशा की अभिव्यक्ति को बखूबी चित्रित किया गया है।

कुछ उपन्यास जो यथार्थवादी एवं समाज के निकट के हैं उनमें मन्नु भंडारी के उपन्यास 'महाभोज', रूप सिंह चन्देल का 'पाथर टीला' भगवान दास का 'काला पहाड़' शैलेन्द्र सागर का 'चतुरंग' तथा मस्तराम कपूर की उपन्यास 'कौन जात हो' विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार उपन्यासों के माध्यम से समाज के कड़वे यथार्थ को चित्रित करते हुये वर्ण और वर्ग के आधार पर होने वाले शोषण का पुरजोर विरोध किया गया है।

उपन्यास लेखन की परम्परा की शुरुआत के विषय में विद्वानों में भी मतभेद है। कुछ विद्वानों का मानना है कि हिन्दी दलित साहित्य का पहला उपन्यास डी०पी० वरुण द्वारा लिखित 'अमर-ज्योति' है, जो 1982 में प्रकाशित हुआ था। प्रसिद्ध दलित समीक्षक डा० एन० सिंह सहित अनेक विद्वानों का मानना है कि जय प्रकाश कदम का उपन्यास 'छप्पर' हिन्दी दलित साहित्य का प्रथम उपन्यास है। अन्य विद्वानों के अनुसार देवीदयाल सेन की उपन्यास 'मानव की परख' प्रथम उपन्यास है।

दलित कहानियों का जब हम विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि दलित कहानियां मुख्य रूप से तीन प्रकार की श्रेणियों में आती हैं— आदर्शवादी यथार्थ परक और चेतनामूलक। इन्हीं तीन श्रेणियों के निकट कहानियों का चित्रण हुआ। कुछ कहानियां आदर्श प्रस्तुत करती हैं, समाज को एक सशक्त संदेश प्रेषित करती हैं, कुछ जीवन का सच्चा और सही चित्रण प्रस्तुत करती हैं तथा वहीं कुछ कहानियां समाज को जागरूक करती हैं तथा सामाजिक विसंगतियों को दूर कर सुदृढ़, सुसम्य एवं संगठित समाज की परिकल्पना करती हैं।

यह कहना मुश्किल है कि वह पहली कहानी कौन-सी लिखी गयी जो दलित चेतना को लेकर थी। दलित कथा साहित्य पर शोध करने वाली डा० रजत रानी 'मीनु' के अनुसार—“सतीश द्वारा रचित, हिन्दी की पहली कहानी” वचन बद्ध है जो अप्रैल 1975 में 'मुक्ति' स्मारिका में प्रकाशित हुयी थी। बाद में मोहन नैमिशराय की कहानी

'सबसे बड़ा सुख' 1978 में 'कथालोक' पत्रिका में तथा ओमप्रकाश बाल्मिकी की कहानी 'अंधेरी बस्ती' सन् 1980 में 'निर्णायक भीम' पत्रिका में प्रकाशित हुयी थी।

दलित दृष्टिकोण से देखा जाये तो पहले प्रेमचन्द और समकालीन कथाकारों तथा बाद में नयी कहानी के दौर में भी दलित पात्रों को लेकर सदैव कहानियां लिखी जाती रही हैं। परन्तु अस्सी के दशक के बाद दलित आन्दोलन विशेष रूप से मुखर हुआ जो साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

उपन्यासों की तरह कहानियों की शुरुआत भी मुंशी प्रेमचन्द से होती है। प्रेमचन्द सामाजिक सरोकार के लेखक हैं। इन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से दलितों के जीवन का जो चित्रण किया है, उससे उन्होंने समाज की संवेदनाओं को जाग्रत करने का प्रयास किया है तथा यह प्रयास किया है कि उनके मन में दलितों के प्रति दया, करुणा, प्रेम व सम्मान का भाव जाग्रत हो। अत्याचार, अनाचार और तिरस्कार 'मंत्र' 'ठाकुर का कुआँ' 'दूध का दाम', 'पूस की रात' तथा 'कफन' आदि कहानियों के माध्यम से दलित चेतना को पुकारा है, झकझोरा है।

प्रेमचन्द जी के बाद के कथाकारों में रांगेय राघव, फणीश्वर नाथ रेणु, पाण्डेय बेचैन शर्मा 'उग्र' शिव प्रसाद सिंह, मन्नु भंडारी, जगदीश चन्द्र, नागार्जुन, रामदरश मिश्र, शैलेन्द्र सागर, मधुकर सिंह, मिथिलेश्वर, मैत्रेयी पुष्पा, उदय प्रकाश इत्यादि ने अपनी कहानियों के माध्यम से दलित-शोषित वर्गों की वस्तुस्थिति को समझने तथा उनके प्रति अन्य सामाजिक वर्गों की भावना एवं व्यवहार को समझने का प्रयास किया है, एक चेतना जाग्रत की है। हिन्दी दलित कथाकारों में मोहनदास नैमिश राय एवं ओमप्रकाश बाल्मिकी का नाम शीर्ष पर है। 1980 के बाद

ही हिन्दी दलित साहित्य में हिन्दी कहानी लेखन की शुरुआत हुयी जिसे पुरी गतिशीलता 1990 के बाद मिली। दलित उत्पीड़न एवं संवेदना के जितने भी पक्ष हो सकते हैं इन कहानियों में सभी का चित्रण मिलता है। इन कहानियों में दलित जीवन की दुर्दशा, पीड़ा एवं व्यथा को पूरी तरह उकेरा गया है। जो दलित जीवन का भयावह यथार्थ है। सदियों से शोषण का शिकार रहे दलित वर्ग के शोषण का कोई एक रूप नहीं रहा।

अब्दुल बिस्मिल्लाह अपनी कहानी 'खाल खींचने वाले' में मरे पशुओं को ढोकर गाँव-बस्तियों से बाहर ले जाकर उनका खाल निकालने वाले दलितों के शोषण और दर्द को चित्रित करते हैं।

दलितों ने यदि कभी अपने स्वाभिमान के लिये आवाज उठाई है तो उसे मारना-पीटना और प्रताड़ित करना सामान्य सी बात है। इसी विषय को लेकर मोहनदास नैमिश राय ने 'आवाजें' कहानी लिखी। गाँव के मेहतारों द्वारा जूठन एवं मैला नहीं साफ करने के निर्णय से क्षुब्ध ठाकुरों ने उन्हें किस तरीके से प्रताड़ित किया। इसी पर पूरी कहानी केन्द्रित है जो समाज में होने वाली घटनाओं का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती है।

ओमप्रकाश बाल्मिकी ने भी अपनी कहानी 'जंगल की रानी' में सवर्णों के द्वारा दलितों के शारीरिक-मानसिक शोषण को उकेरा है। सवर्णों द्वारा दलित युवती कमली का बलात्कार एवं हत्या दलित जीवन की भयावह तस्वीर समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। पूरे परिवार के दर्द को यथार्थ के आइने में रखकर चित्रित किया गया है जिससे कई पीढ़ी उबर नहीं पाता है। जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'नो बार' उच्च शिक्षित, आधुनिक तथाकथित उच्च और सभ्य कहे जाने वाले

परन्तु जातिगत भावना से ग्रसित व्यक्तियों की कहानी है।

रमणिका गुप्ता और उमेश कुमार सिंह ने अपनी कहानी 'बहु जुठाई' और 'पहली रात का अंत' में नवविवाहिता दलित स्त्री की पहली रात गाँव के ठाकुर या जमींदार के साथ बिताने की प्रथा के प्रतिकार को चित्रित किया है जो इस समाज के लिये अभिशाप है, कुरीति है, बुराई है।

भगीरथ मेघवाल की कहानी 'सूरज की चिंता' अन्तर्जातीय विवाह पर आधारित कहानी है। जिसमें एक सवर्ण लड़की को दलित युवक से प्यार हो जाता है, वह विवाह कर लेती है। परन्तु बाद में गाँव वापस आने पर उस दलित युवक को ठाकुर जिन्दा जला देता है। ऐसी घटनायें आज भी समाज में कहीं-कहीं देखने-सुनने को मिलती हैं।

डा० दयानन्द बटोही ने 'सुरंग' में एक उच्च शिक्षित दलित युवक की बेकारी की समस्या का चित्रण किया है।

डा० कुसुम बियोगी की कहानी 'और वह पढ़ गयी' में एक मैला साफ करने वाली लड़की की कहानी है जो मां की तरह जीवन जीना नहीं चाहती। अपने हाथ में झाड़ू-टोकरी नहीं पकड़ना चाहती है। कथानायक उसे पढ़ने के लिये प्रेरित करता है जिससे वह लड़की पढ़ने के बाद आगे चलकर सरकारी नौकरी पाती है। इस कहानी में शिक्षा के महत्व पर बल दिया गया है तथा शिक्षा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा की गयी है।

परम्परा विरोध पर आधारित कहानियों में ओमप्रकाश बाल्मिकी की कहानी 'सलाम' तथा सत्य प्रकाश की कहानी 'बिरादरी भोज' सूरज पाल चौहान की 'परिवर्तन की बात' मोहन नैमिशराय की

‘अपना गांव’ रत्न कुमार सांमरिया की ‘शर्त’ इत्यादि कहानियां उल्लेखनीय हैं जो दलितों में व्याप्त एक घातक परम्परा विरोध का चित्रण है तथा यह दलितों में सम्मान एवं स्वाभिमान से जीने की विकसित हो रही भावना की सार्थक अभिव्यक्ति है।

बिपिन बिहारी की कहानी ‘अपनी सीमायें’ भी गाँव में व्याप्त जाति व्यवस्था के कड़वा सच को समाज के समक्ष रखती है। प्रेम कपाड़िया की कहानी ‘हरिजन’ देवदासियों के जीवन पर केन्द्रित एक यथार्थ परक कहानी है जिसमें धर्म के नाम पर, देवदासी प्रथा के नाम पर दलित स्त्रियों के शोषण को दिखाया गया है। प्रेम कपाड़िया की यह कहानी हिन्दू धर्म के उस घृणित चेहरे को समाज के समक्ष रखती है जो धर्म के नाम पर दलित महिलाओं को वेश्या बनाता है।

अनेक कहानियों में दलितों के आक्रोश एवं बदले की भावना को भी दर्शाया गया है। कर्मशील भारती की कहानी ‘स्वाभिमानी’ में भी नायिका के प्रतिशोध की भावना को दर्शाया गया है। इस कहानी की नायिका की छोटी बहन का बलात्कार कुछ राजपूत युवकों द्वारा होता है जिसका बदला वह नायिका उन युवकों की हत्या करके लेती है।

अनेक दलित लेखकों ने कहानियों के माध्यम से दलितों की दो जाति के बीच के अन्तर्विरोध को उकेरा है। इस अन्तर्विरोध की सबसे महत्वपूर्ण कहानी ओमप्रकाश बाल्मिकी की शव यात्रा है जिसमें भंगी और चमार जाति के अन्तर्विरोध का चित्रण किया गया है।

इन कहानियों के अलावा ओम प्रकाश बाल्मिकी की ‘बहुरूपिये’, ‘सपना’ ‘सूरजपाल चौहान की ‘हैरी कब आयेगा’,

बिपिन बिहारी का ‘अपना मकान’ ‘पुनर्वास’ और ‘आधे पर अंत’ कुसुम बियोगी की ‘चार इंच की कलम’, स्वरूप चन्द का ‘दलित अन्तर्द्वन्द’ डा० शत्रुघ्न कुमार का ‘हिस्से की रोटी’ तथा संतराम आर्य का ‘उधार की जिन्दगी’ कहानियां दलित विमर्श के दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय हैं जो आदर्शवादी, एवं चेतना मूलक हैं।

स्वतंत्रत कहानियों के अतिरिक्त अनेक कहानी संग्रहों का सम्पादन भी हुआ। इस प्रकार की संपादित कहानियों में डा० कुसुम बियोगी द्वारा सम्पादित “समकालीन दलित कहानियां”, “चर्चित दलित कहानियां”, तथा “दलित महिला कथाकारों की प्रतिनिधि कहानियां”, डा० एन० सिंह द्वारा संपादित ‘काले हाशिये पर’ तथा ‘यातना की परछाईयां’, रमणिका गुप्ता द्वारा संपादित ‘दूसरी दुनियां का यथार्थ’ तथा ‘दलित कहानी संचयन’ सूरज पाल चौहान द्वारा सम्पादित ‘हिन्दी के दलित कथाकारों की पहली कहानी तथा डा० रजत रानी मीनू द्वारा संपादित ‘हाशिये से बाहर’ कहानियों का संग्रह विशेष महत्वपूर्ण है।

कथा साहित्य के माध्यम से साहित्यकारों ने सच्चे अर्थों में दलितों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समस्त अन्याय, शोषण व अपमान के प्रति विरोध का प्रयास किया है। दलित जीवन की त्रासदी को समाज के समक्ष रखकर उस विद्वेष, कटुतापूर्ण जातिगत दुर्भावना से छुटकारा दिलाने का प्रयास किया है जिसने सदियों से दलितों का शोषण किया है, दोहन किया है।

साहित्य की अन्य विधाओं जैसे उपन्यास, कहानी, कथा साहित्य, नाटक में दलित विमर्श व दलित चेतना के स्वर मुखरित हुये हैं उसी प्रकार कविता में भी इन वर्गों के पीड़ित पक्षों को उभारा गया है। तथा

समाज की सोयी हुयी चेतना को झंकृत करने का प्रयास किया गया है। कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से उस वर्ग के उत्पीड़न की अभिव्यक्ति की है जो सदियों से उपेक्षित, तिरस्कृत एवं अपमानित रहा है।

अनेक संत कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से दलित-शोषित वर्ग को समाज के सापेक्ष लाने का प्रयास किया। इन संत कवियों ने इन वर्गों पर होने वाले सामाजिक अपमान, अत्याचार एवं तिरस्कार को नजदीक से देखा, समझा एवं महसूस किया। कबीर स्वयं 'जुलाहा' थे, रैदास 'चमार', सिंगाजी 'गवाला', दादुदयाल 'धुनिया', बुल्ला साहब 'कुर्मी', दरियादास बिहार वाले 'दर्जी' एवं पलटू साहब 'कान्दू' थे। ये सभी निर्गुण काव्यधारा के कवि थे। निम्न वर्ग में पैदा हुये इन सन्तों में भी उपेक्षा, अपमान व तिरस्कार को सहा। अतः इन्होंने जाति-पाति ऊँच-नीच, भेदभाव व अंधविश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेकने का संकल्प लिया।

कबीर ने –

तू कहता कागद लेखी

मैं कहता हूँ आंखिन देखी

कहकर धर्म ग्रन्थों का खण्डन एवं अनुभूमि मूलक सत्य का मण्डल प्रारम्भ किया। कबीर ने स्पष्ट कहा कि— “एक बूंद में सृष्टि रची है, को बामन को सूदा।” संत सुन्दर दास, स्वामी रामानन्द ने भी व्यक्ति को कर्म से श्रेष्ठ बताया। उन्होंने जीवन में कर्म के महत्व को स्वीकार किया तथा स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—

‘जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई’।

पलते ने ऊँची जाति का दंभ भरने वाले पंडितों से कहा कि तुम ऊँची जाति का

अभिमान रखते हो परन्तु रहन-सहन कसाईयों जैसा है। उन्होंने— संकटा बामन ना तरै, भक्त तरै चमार। कहकर जन्मगत श्रेष्ठता को चुनौती दी।

संत रैदास उच्चकोटि के संत होत हुये भी मोची का काम करते थे। राजरानी मीरा ने भी इनकी शिष्यता स्वीकारी थी। रैदास ने जाति पर प्रहार करते हुये कहा—

रविदास ब्राह्मण मत पूजिये, जउ होवे गुनहीन।

पूजहि चरन चंडाल के, जउ होवे गुनहीन।।

इस प्रकार इन मध्यकालीन संत कवियों ने जाति-पाति व धर्म ग्रंथों में निहित कर्मकाण्डों पर आधारित समाज को अंधविश्वास को परित्यागने का उपदेश दिया। वर्णाभिमान से कल्याण सम्भव नहीं। इस सन्दर्भ में संत सुन्दर दास ने ब्राह्मण एवं शुद्र की अभिन्नता के बारे में जो बातें समाज के समक्ष रखी वे तार्किक रहीं। उन्होंने कहा कि शुद्र घर के घट जल में और ब्राह्मण घर के कलश जल में जब सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो दोनों एक समान चमकता है। उन्होंने इस बात को बड़े ही सहजता से व्यक्त किया है कि जब समस्त मानव एक ही ईश्वर के अंश हैं तो ऊँच-नीच का भेद क्यों? जाति व्यवस्था एवं वर्ण-व्यवस्था की पीड़ा को व्यक्ति करते हुये उन्होंने समाज से आह्वान किया कि ऊँच-नीच का भेद समाप्त करने के लिये इन व्यवस्थाओं को जड़ से समाप्त करना होगा, तभी समतामूलक समाज की स्थापना सम्भव है। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की स्थापना ही दलित विमर्श का उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति साहित्यकारों ने की। कवि सुमित्रा नन्दन पन्त में ऐसे ही समाज की कल्पना इस प्रकार की—

सर्व मुक्ति हो, मुक्ति तत्व अब,

सामुहिकता ही निजत्व अब,
बने विश्व जीवन की स्वरलिपी,
जन-जन मर्म कहानी।

रामधारी सिंह दिनकर जी ने दलितों को अपनी शोषित अवस्था से उबरने के लिये क्रान्ति का आह्वान किया है—

उठो—उठो कुरीतियों की राह भी रोक दो,
बढ़ो—बढ़ो की आग में गुलामियों को झोंक दो।

आधुनिक काल में दलित कविता का प्रारम्भ 1914 में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हीरा डोम की कविता "अछूत की शिकायत" से हुआ है, जिसमें उसने अपने दलित होने की पीड़ा व्यक्त की है—

"हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जानी
पांकि में से भरि—भरि पियतानी पानी
पनही से पीटि—पीटि हांथ गोड़ तुरि देले
हमनी के एतना काहे के हलकानी"

तथा—

"हमनी के रात दिन दुःखवा भोगत बानी
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबे
हमनी के दुःख भगवनओ न देखता
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबे।"

यदि हम जीवन में किसी दुःख, अभाव, कष्ट को महसूस करना चाहते हैं तो दलितों के जीवन को देखना—समझना होगा, क्योंकि दलितों का जीवन इन सभी अभावों से परिपूर्ण है जो उनको नारकीय जीवन प्रदान करते हैं। जाति व्यवस्था ने दलितों को इतना अन्दर दफन कर दिया कि उनकी पहचान भी वैसे ही हुयी। दलितों की बदहाली को कवियों ने अपनी लेखनी से प्रकट किया।

उनके पास न रोटी है, न कपड़ा है और ना ही मकान। ऐसी मर्मस्पर्शी स्थिति का चित्रण कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने भी की—

भूख प्यास से पीड़ित, उसकी भद्दी आकृति,
स्पष्ट कथा कहती, कैसी इस युग की
संस्कृति,

वह पशु से भी घृणित, मनुज—मानव की ही
कृति,

जिसके श्रम से सिंची समुद्रों की पृथु सम्पति।

समाज में हर स्थान पर लोग उसे जाति के आधा पर सम्बोधित करते हैं, अपने कटाक्ष से शर्मसार करते हैं। अपने सवर्ण होने के दंभ में सब उन्हें अपमानित एवं तिरस्कृत करते हैं। कवियों ने जाति व्यवस्था के पक्षधर वर्गों को धिक्कारा है तथा जाति व्यवस्था को 'डायन' कहकर पुकारा है जो पग—पग पर दलितों का खून पीती है—

"वर्ण—धर्म की वैचारिकी के, सुडौल उरोजों
का

जहरीला दूध पीकर, विखण्डन के खप्पर
मरने वाली,

डायन है, हमारे देश की जाति प्रथा।"

(जयप्रकाश लीनलवान— "अब हमें ही चलना
है" पृष्ठ—55)

मलखान सिंह ने अपनी कविता 'सुनो ब्राह्मण' में जाति प्रथा पर प्रहार करते हुए अपनी भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"मैं इस देश में जहां भी रहता हूँ,
आदमी मुझे नाम से नहीं,
जाति से पहचानता है,
और जाति से सलूक करता है।"

इसी प्रकार ओम प्रकाश बाल्मिकी ने भी अपनी कविताओं में जाति प्रथा पर कटाक्ष करते हुये कहा—

“जाति आदिम सभ्यता का, नुकीला औजार है,

जो सड़क चलते आदमी को, कर देता है छलनी,

न जाने किस हरामजादे ने, डाल दिया जाति का फंदा,

जो, न हमें जीने देता है, न तुम्हें।”

वर्ण व्यवस्था पर बोलते हुये श्री कंवल भारती ने इस समाज से उत्तर मांगना चाहा है—

“अपने देश में उल्लू के पट्टों ने बना दी है आदमियों की जातियां जिससे कि एक प्रतिष्ठा पाता रे

दूसरा अन्दर ही अन्दर

तिलमिलाता रहे, सकुचाता रहे,

एक को सुख सुविधायें मिले

एक भूख से बिलबिलाता रहे।”

लक्ष्मी नारायण सुधाकर ने अपनी कविता ‘उत्पीड़न की यात्रा’ में दलितों के साथ हो रहे सामाजिक, मानसिक अत्याचार, अनाचार को प्रकट करते हैं। वह अपनी भावना को अभिव्यक्त करते हुये पूछते हैं—

“धर्म, आदमी को आदमी से जोड़ता है

अज्ञानता, असमानता, अन्याय को तोड़ता है,

स्वतंत्रता, समता और मातृत्व धर्म की धूरी है,

अस्पृश्यता धर्म की गर्दन पर छूरी है।”

अर्थात् धर्म तो आदमी को जोड़ता है, फिर तोड़ने की मानसिकता कैसी?

ओमप्रकाश बाल्मिकी, मलखान सिंह, जय प्रकाश लीलवान, डा0 एन0 सिंह, जयप्रकाश कदंभ, भवेन्दु महर्षि, लक्ष्मी नारायण सुधाकर, पुरुषोत्तम सत्य प्रेमी, एन0आर0 सागर, सुखबीर सिंह, यशवंत मनोहर इत्यादि ऐसे दलित कवि हैं, जिन्होंने दलितों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति का मार्मिक चित्रण अपनी कविताओं में किया है। इनके अनुसार दलितों के लिये ना ही स्वतंत्रता के मायने है, ना आजादी के और ना ही लोकतंत्र के।

‘संसद तो सवर्ण है’ काव्य संकलन में नवेन्दु महर्षि ने इसी पक्ष को रेखांकित करते हुये लिखा है—

“दलितों के लिये, आजादी एक गाली है,

इस लोकतंत्र का चरित्र बदलना होगा,

क्योंकि यह लोकतंत्र जाली है।”

दलित काव्य—संकलनों में डा0 धर्मवरी का ‘हीरामन’ डा0 सुखबीर सिंह का ‘बयाने बहार’, डा0 पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का ‘द्वार पर दस्तक’, कंवल भारती का ‘तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती’, जय प्रकाश कदंभ का ‘गूंगा नहीं था मैं’, माता प्रसाद जी का ‘एकलव्य’, ‘दिग्विजय’, ‘रावण’ तथा ‘भीमशतक’ ओमप्रकाश बाल्मिकी का ‘बस बहुत हो चुका’ तथा ‘सदियों का संताप’, श्याम सिंह शशि का ‘एकलव्य’ व ‘घटोटकच’ तथा डा0 कुसुम बियोगी का ‘टुकड़े—टुकड़े दंश’ विशेष लोकप्रिय एवं उल्लेखनीय हैं। अन्य काव्य संकलनों में मोहन नैमिशराय का ‘सफदर एक बयान’, श्यौराज सिंह बेचैन का ‘नई फसल’ तथा कर्मशील भारती का ‘दलित—मंजरी’ प्रमुख हैं।

उपन्यासों कहानियों की तरह कवितायें भी दलित विमर्श से भरी पड़ी हैं। उनकी पीड़ा को न केवल महसूस किया वरन्

उनका पुरजोर विरोध एवं प्रतिकार भी इन कविताओं में व्यक्त हुआ है।

आत्मकथा लेखन साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। वैसे यह माना जाता है कि आत्मकथा जीवन के अन्तिम पड़ाव पर लिखा जाता है, परन्तु यदि वे युवा साहित्यकार जो व्यवस्थित रूप से लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं, प्रत्येक विधा में अच्छे साहित्य का सृजन कर सकते हैं। यह उनके जीवन और अनुभवों की यथातथ्य अभिव्यक्ति है। यह किसी भी अन्य विधा की तुलना में अपने जीवन में भोगे हुये यथार्थ को अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम है। आत्मकथा लेखन के केन्द्र में लेखक का अपना निजी जीवन होता है तथा समाज के साथ वह और उसके साथ समाज चलता है। आत्मकथा लिखते समय लेखकों ने उन घटनाओं का बखूबी चित्रण किया जिसे उन्होंने अपने जीवन में घटित होते देखा। उस दर्द एवं पीड़ा को अपनी लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

चूंकि दलित विमर्श सर्वप्रथम मराठी साहित्य में आरम्भ हुआ था, अतः इस विधा में भी सर्वप्रथम मराठी साहित्य में ही इस परम्परा की शुरुआत दिखाई देती है। इन आत्मकथाओं में दलित विमर्श स्पष्ट रूप से वर्णित है। मराठी दलित आत्मकथाओं में दया पवारकृत 'बलूत' (अछूत) शंकर राव खरात कृत 'तराल-अंतराल', सोनकाम्बले कृत 'यादों के पंछी', शरण कुमार लिंबाले कृत 'अक्करमासी' लक्ष्मण गायकवाड़ कृत 'उचल्या', लक्ष्मण याने कृत 'उपरा' (पराया) इत्यादि आत्मकथायें हिन्दी में भी अनुदित एवं प्रकाशित हैं। अन्य आत्म कथाओं में बसन्तमून कृत 'बस्ती' उर्मिला पवार कृत 'आपदान', डा० रूस्तम कृत 'गावकी' इत्यादि महत्वपूर्ण हैं।

देखा जाये तो हिन्दी साहित्य में पहली आत्मकथा मोहनदास नैमिशराय की "अपने-अपने पिंजरे" हैं, जो सन् 1994 में प्रकाशित हुयी थी। इसके पश्चात् ओम प्रकाश बाल्मिकी की 'जूठन' प्रकाशित हुयी। इन आत्मकथाओं ने समाज की चेतना को जागृत किया। इनके माध्यम से दलित जीवन की दुर्दशा एवं अत्याचार को सत्यता के साथ उद्घाटित किया गया है। ओम प्रकाश बाल्मिकी ने अपनी आत्मकथा में यह दिखाने की कोशिश की है कि सवर्ण अध्यापक आज भी दलित छात्रों के मामले में द्रोणाचार्य बने हुये हैं। एक संवाद में बाल्मिकी से नाम पूछने के पश्चात् हेडमास्टर का कहना कि— वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियों की झाड़ू बना ले। पूरे स्कूल को ऐसा चमका दे जैसे सीसा। तेरा तो यह खानदानी काम है। जा फटाफट काम पे लग जा।" जाति जानने के बाद दलित छात्रों से इस प्रकार का व्यवहार एवं तिरस्कृत रवैया, गाँव में पढ़ने वाले प्रत्येक दलित छात्र का अनुभव है।

ऐसा ही अनुभव मोहन नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में अभिव्यक्त की है— "स्कूल से जुड़ी थी हमारी जाति। जाति पहले आती थी स्कूल बाद में।" ऐसा वह बताते हैं। इस तरह की पीड़ा से वे व्यथित थे।

कौशल्या बैसन्त्री अपनी आत्मकथा "दोहरा अभिशाप" में स्त्रियों की दशा का वर्णन करते हुये दलित स्त्री की व्यथा को उकेरती है। उनके अनुसार दलित स्त्री, स्त्री होने के साथ-साथ दलित होने का दंश भी झेलती है, बर्दाश्त करती है। समाज में दलित होने की पीड़ा और परिवार में स्त्री होने का दुःख, दोनों ही रूपों में वह उपेक्षा और उत्पीड़न की शिकार होती रही है। इस दोहरे

दुःख से वह किस प्रकार दबी-सहमी है, इसी व्यथा को उकेरने का प्रयास किया गया है।

याद करें तो पाते हैं कि प्रसिद्ध साहित्यकार हरिवंश राय बच्चन ने अपनी आत्मकथा “क्या भूलू, क्या याद करूँ”, में कायरस्थ जाति का इतिहास बताते समय शुद्रों का भी वर्णन किया है।

माता प्रसाद जी की आत्मकथा ‘झोपड़ी से राजमहल’ तक में दलितों द्वारा गोबराहा की रोटी और मरे पशुओं का मांस खाने के जैसी अमानवीय सत्य की अभिव्यक्ति मिलती है। जो दलितों की गरीबी एवं बदहाल जिन्दगी का यथार्थ चित्रण है।

इनके अतिरिक्त डा० डी०आर० जाटव की ‘मेरा सफर मेरा मंजिल’ सूरज पाल चौहान की ‘तिरस्कृत’ जिसमें भंगी एवं चमारों का द्वंद चित्रित है, कर्मेन्दु महर्षि की ‘इंसान से ईश्वर तक’, रमाशंकर आर्य की ‘घुटन’ इत्यादि महत्वपूर्ण आत्मकथायें हैं। सवर्णों द्वारा अत्याचार एवं अनाचार तथा उसका प्रतिकार न कर पाने की हिम्मत, दलितों के प्रति असम्मान की भावना इन आत्मकथाओं में वर्णित है।

इन आत्मकथाओं की सार्थकता तभी होगी जब इन्हें पढ़कर दलित वर्ग में अभाव, उपेक्षा एवं नारकीय जीवन से मुक्त होने की चेतना, उत्कंठा बलवती हो, जागृत हो। जो जीवन जीने के लिये, सम्मानपूर्वक जीने के लिये प्रेरणा प्रदान करे, मार्गदर्शन करे। उस जीवन से मुक्ति प्रदान करे जो शोषित है, पीड़ित है, आश्रित है। अपने आक्रोश, पीड़ा, अकुलाहट व छटपटाहट को अभिव्यक्त कर उस जीवन से निकलने का पुरजोर प्रयास करे। आत्मकथायें लेखक के जीवन की दस्तावेज हैं, उसे बनावटी रूप न देकर वैसा ही रूप देना चाहिये जैसा वह

लेखक देख रहा है, समझ रहा है, भोग रहा है, और जी रहा है।

जिस प्रकार साहित्य की प्रत्येक विधा में दलित चेतना को जागृत करने की कोशिश की गयी है, तथा प्रत्येक विधा ने दलित चिन्तन को एक कदम आगे बढ़ाने का प्रयास किया है, उनमें नाटकों का भी अहम योगदान रहा है। इस चेतना को गति एवं दिशा प्रदान करने में इन नाटकों की भूमिका महत्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य में दलित नाटककारों में श्री माता प्रसाद जी का ‘अछूत का बेटा’, ‘धर्म के नाम पर धोखा’, ‘धर्म परिवर्तन’, ‘वीरांगना झलकरी बाई’, मोहनदास नैमिश राय का ‘क्या मुझे खरीदोगे’, रूप नारायण सोनकर का ‘विषधर’ तथा गोकरण करुणाकर की ‘दलितों का मसीहा बाबा साहब’ काफी लोकप्रिय हैं, जिसने दलितों की पीड़ा को सर्वसमाज के समक्ष रखा।

किसी भी साहित्य का मूल उद्देश्य यह होता है कि कैसे एक सभ्य समाज का निर्माण हो? बुराईयों, विसंगतियों का नाश एवं सद्भाव व सद्गुण का वास कैसे हो? विभिन्न जातियों व गुटों में बंटे समाज को संगठित एवं सुसंस्कृत करने के लिए आवश्यक है कि उनका गहन अध्ययन एवं विश्लेषण कर, उनकी समस्याओं, विषमताओं को समाज के समक्ष रखा जाये।

साहित्य एवं समाज बीच एक गहरा सम्बन्ध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी भी समाज की वस्तुस्थिति का जायजा उस समाज के समकालीन साहित्य को पढ़कर लिया जा सकता है। एक स्वस्थ, सम्पन्न, सुखी एवं प्रगतिमूलक समाज के लिये आवश्यक है कि उच्च कोटि के साहित्य का सृजन हो। जो उस समाज को समतामूलक व प्रगतिमूलक बनाने में सहायक हो। इसके लिये आवश्यक

है कि साहित्यकार निरपेक्ष भाव से उस समाज की स्थिति का चित्रण करे तथा समाज में व्याप्त कुश्रितियों को अपनी लेखनी के माध्यम से दूर करने का प्रयास करे। ऐसे समस्त दुर्गुणों का नाश करने का प्रयास करें जो समाज को जोड़ने के बजाय तोड़ने का काम करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से दलित साहित्य की अपनी एक पहचान बनी है। दलित साहित्य, दलितों के उत्थान के लिये किये जा रहे प्रयासों का, चेतना-जागरूकता का एक हिस्सा है। और इसका मूल उद्देश्य उनके अस्तित्व को झकझोरना है, सोयी हुयी, दबी हुयी चेतना को जागृत करना है। उनके आत्म सम्मान एवं स्वाभिमान की भावना को झंकृत कर इस बंधन से छुटकारा दिलाना है कि वे दलित हैं, अछूत हैं, शोषित हैं पीड़ित हैं।

आरम्भ से ही शिक्षा, ज्ञान, सम्मान व सामाजिकता से दूर दलित वर्ग को देश की आजादी के बाद मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर मिला है। प्रत्येक क्षेत्र में उनकी सहयोगिता एवं सहभागिता सुनिश्चित की जाने लगी है। वर्तमान में साहित्य, शिक्षा, विज्ञान एवं राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में दलित विमर्श अपने शीर्ष स्थान पर है। आज साहित्य के मंच पर दलित विमर्श निश्चित रूप से दलितों के हित में, दलितों के लिये सुखद एवं विकासोन्मुखी प्रेरणा प्रदान कर रहा है और आगे भी करेगा। उत्कृष्ट साहित्य और सकारात्मक सोच का साहित्यकार समाज की दिशा और दशा निर्धारित करने में

अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। वे दलित विमर्श के सकारात्मक पहलुओं को समाज के समक्ष रखकर देश को, राष्ट्र एक नई दिशा एवं गति प्रदान करें, यही समय की मांग है।

संदर्भ ग्रंथों की सूची

- दलित साहित्य और सामाजिक न्याय— श्री पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी
- दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र— डा० शरण कुमार लिंबाले
- दलित विमर्श साहित्य के आईने में— डा० जय प्रकाश कर्दम
- 21वीं सदी का दलित विमर्श— डा० वीरेन्द सिंह यादव
- पत्रिका— 'सोशल ब्रेनवश' एवं 'स्पन्दन' दलित विशेषांक